

पत्रों से साधन शिक्षा

संयम, समावस्था और प्रार्थना : मैं (आपके लिये)

उचित यह समझता हूँ कि चढ़ाई का अभ्यास तथा वर्तमान आध्यात्मिक अवस्था पर्याप्त हो गयी। इस समय इसकी अधिक आवश्यकता नहीं मालूम होती। परन्तु जब तक इन्द्रियां और अन्य तत्व नियंत्रित होकर संयम-क्रम में न आ जायें, उस समय तक सूक्ष्मता नहीं आती और न असली शान्ति मिलती है और यह अवस्था बिना तप किये प्राप्त नहीं होती। (आपके लिये) जो तप अनिवार्य है वह यह है कि इन्द्रिय दमन कर अन्तःकरण को शुद्ध किया जाये। अन्तःकरण की शुद्धि से यह आशय है कि जो स्वभाव और आवेश श्रद्धा और शिष्टाचार के विरुद्ध हो रहे हैं, वे सब ठीक हो जायें, सभी चक्र विकसित होकर पूर्णता को प्राप्त हो जायें। अभ्यास और साधन यह होना चाहिये कि अपने उभार और आवेश को रोक कर समावस्था पैदा करें। एक स्वभाव और आवेश जो आप पर हावी हो रहा है उसको प्रथम अभ्यास में सामने रखें और परमात्मा से

सच्चे दिल से नित्य इस प्रकार प्रार्थना करें कि रोना आ जाये और उससे सहायता की याचना करें कि उस आदत पर संयम हो जाये और आवेश समावस्था में आ जाये। परमात्मा ने चाहा तो लाभ होगा और काम बनेगा (सफलता मिलेगी)।

‘हिम्मते मर्दा मददे खुदा’ अर्थात् मनुष्य साहस करे तो परमात्मा अवश्य सहायता देता है – यह सदा-सदा की प्रसिद्ध कहावत है और यह भी प्रसिद्ध है कि ‘ई सआदत बजोरे बाजू नेस्त, गर न बख़्शाद खुदाए बख़्शान्दा’ अर्थात् बिना प्रभु कृपा के निजबल और साधन से यह सब संभव नहीं है और परमात्मा की कृपा से ही यह सुलभ हो पाता है। इसके लिये उत्तर यह है कि हमारे और आप सब लोगों के सर पर वंश के महापुरुषों (सन्तों) की छाया है और (ऊपर से) यह सहायता पर्याप्त है।

प्रेम, दीनता और तप : यदि औरों के विचार आपके विचारों से नहीं मिलते हैं तो सब्र (संतोष) करो, अहं पर संयम करो, मौन धारण करो, अपने आप को दीन समझो

और अपनी कमी या दोष देखो। सबसे बढ़िया बात मैं आपको बताता हूँ जो गुरु महाराज ने ऐसी स्थिति के लिये मुझे बतलायी थी और मुझको उसमें सफलता मिली थी। वह यह है कि जिस व्यक्ति से आपको भय हो और उलझन होती हो उसको अपना शुभचिन्तक और अपना मित्र ख्याल करो और दृढ़तापूर्वक इसका ख्याल बढ़ाओ। प्रतिदिन एकान्त में बैठकर थोड़ी देर यह अभ्यास किया करो कि अमुक व्यक्ति मेरा शुभचिन्तक है—उसके काल्पनिक स्वरूप को अपने सामने बैठाओ और यह ख्याल करो कि उसके दिल में आपके लिये बुराई के विचार निकल गये और आपके प्रति उसमें भलाई के विचार समा गये। जब कभी पास बैठने का अवसर हो तो उसके स्वरूप पर दृष्टि जमा कर, जो श्वास बाहर छोड़ते हो, उस श्वास के साथ—साथ ही यह ख्याल करो कि आपके प्रेम के कण उस व्यक्ति के हृदय में प्रवेश कर उसमें असर (प्रभाव) कर गये और जो श्वास बाहर से अन्दर लेते हो तो यह ख्याल करो कि उस व्यक्ति के बुरे विचार जो आपके प्रति उसके दिल में थे उनको आपने घसीट लिया

है और एक ओर फेंक दिया है। यह क्रिया इस प्रकार से इतनी करो कि चर्खी के समान एक चक्र बन जाये। यह क्रिया अत्यंत लाभदायक और प्रभावकारी है। यदि आपका यह प्रयास घृणा से प्रेम में बदल जाये तो थोड़े दिनों में पानी की भांति (उस व्यक्ति के) भाव की दिशा बदल जायेगी और आप आश्चर्य करेंगे कि क्या से क्या हो गया। पहले बड़ी कठिनाई होगी और ये काम पहाड़ की तरह भारी मालूम होगा। लेकिन साहसी (दृढ़ इच्छा शक्ति वाले) व्यक्ति के लिये आसान होगा। 'मुश्किले नेस्त कि आसां न शवद' अर्थात् ऐसी कोई मुश्किल नहीं जो आसान न हो जाये।

यदि आपको अपने अपमान का ख्याल है तो उसकी तह में सम्मान की इच्छा छिपी है। अपमान और सम्मान सापेक्षिक शब्द हैं। आपको अपने सम्मान का ख्याल है, इसलिये दूसरों के कार्य (व्यवहार) आपके लिये अपमान प्रतीत होते हैं। यदि आप दूसरों को आदर करें और अपने आप को दीन समझें तो आपका आदर होगा।

दूसरे शब्दों में ऐसा समझिये कि आप स्वयं आदर करें। अपने आप आदर करना क्या है— दूसरों को हीन न समझना, किसी के मामले में दखल न देना, खुदाई फौजदार (झगड़ालू) न बनना, किसी के भेद न मालूम करना, दूसरों की बात पर अपनी बात को ऊंचा रखने की चेष्टा न करना, वाद-विवाद में न पड़ना, अपने आप को यह सिद्ध न करना कि मुझको वास्तव में यह बात सही मालूम है और शेष बात करने वाले गलत हैं। नहीं मालूम अपने विचारों, अनुभवों, घटनाओं आदि की दृष्टि से अपनी तर्क किस स्तर की है और दूसरों के स्तर के अनुसार उनकी तर्क किस प्रकार की है। हर विषय में आप विशेषज्ञ नहीं हैं जो कि लोग अनायास ही आपकी राय सही मान लें और उसके अनुसार चलने लग जायें। आप प्रेम से लोगों को जीत सकते हो, दूसरा कोई उपाय नहीं है। मन को काबू करना बड़ा तप है, मन जीते जगजीत। मन की शुद्धि और इन्द्रियों पर संयम रखना बड़ा तप है और यह कठिन है। प्रेम मार्ग में साहस से कदम बढ़ाते

चलो, 'कदमें इश्क बेशतर' अर्थात् प्रेम में बढ़ता हर कदम श्रेष्ठ है।

परमात्मा, आत्मा और विवेक शक्ति : नहीं मालूम कि आम लोगों ने परमात्मा और आत्मा को क्या समझ रखा है। मेरी समझ में जो परमात्मा के विषय में चर्चा करता है और उसकी वास्तविकता खोजता है वह आत्मा है और जिसकी उसको तलाश है वह परमात्मा है। अगर ऐसा नहीं है तो न तो इनसानी आत्मा है और न कोई उसका परमात्मा है। पशुओं का चलना-फिरना, जीवित रहना भी आत्मा से सम्बन्धित है और मनुष्य का भी, अन्तर दोनों में केवल चेतना का है। जितनी जिस व्यक्ति में विवेक शक्ति अधिक है उतनी ही उसकी आध्यात्मिकता निर्मल है। मनुष्य की विवेक शक्ति ही इस बात को दर्शाती है कि वह अपने सिवाय किसी अन्य अस्तित्व को देखता, जानता और समझता है और अपनी वर्तमान स्थिति से अधिक जानने, देखने और समझने की हजारों प्रकार से चेष्टा करता है और करता रहेगा। वह यह समझता है कि

मैं कुछ हूँ और यह भी समझता है कि मेरे अलावा दूसरी चीज़ (हस्ती, अस्तित्व) भी है और यह भी समझता है कि मेरे और दूसरी चीज़ के समझने हेतु बीच में विवेक शक्ति भी है। इससे कोई इनकार नहीं कर सकता।

यदि यह बीच की विवेक शक्ति हर व्यक्ति में न होती तो वह कभी न अपने को समझता और न दूसरे को। अतः जो कुछ असल है वह विवेक शक्ति है। विवेक शक्ति की श्रेणियां और स्तर हैं।

मिट्टी और पत्थर की तुलना में वृक्षों और घास (वनस्पति) में विवेक शक्ति अधिक है और वनस्पति की तुलना में पशुओं में और जानवरों में से कुछ विशेष जानवरों में और फिर जानवरों की तुलना में मूढ़ मनुष्यों में, मूढ़ मनुष्यों की तुलना में बाह्य ज्ञान रखने वाले मनुष्यों में, बाह्य ज्ञान रखने वाले व्यक्तियों की तुलना में आन्तरिक ज्ञान रखने वाले व्यक्तियों में, आन्तरिक ज्ञानियों की तुलना में ज्ञान को व्यवहार में लाने वाले व्यक्तियों में विवेक शक्ति (चेतना) उच्च स्तर की होती है। यह सब

चेतना (विवेक शक्ति) अपनी श्रेणी और स्तर के अनुसार आत्मा है और जिस चीज़ की पहचान की जाती है वह भी अपने-अपने स्तर अनुसार उसका ईश्वर है अर्थात् एक स्तर से आत्मा है और दूसरे स्तर से परमात्मा। इसके अतिरिक्त कुछ नहीं। यही आत्मा है और (परम स्तर पर) यही परमात्मा का अस्तित्व है। मैं और आप ज्ञान का अंश हैं और परमात्मा पूर्ण ज्ञान बल्कि ज्ञान स्वरूप है। जहां आत्मा का सवाल आता है वहां अवश्य ही परमात्मा का सवाल आकर खड़ा हो जाता है। यदि आत्मा और परमात्मा का प्रश्न न पैदा हो तो भी वहां आत्मा और परमात्मा हैं। तात्पर्य यह है कि चाहे कोई आस्तिक हो या नास्तिक आत्मा और परमात्मा अवश्य है।

यदि जानवरों की भांति किसी व्यक्ति में विवेक का प्रकाश इतना लुप्त हो गया है कि वह अपने आप को किसी दूसरी चीज़ से पहचान नहीं सकता तो यह नहीं कहा जा सकता कि परमात्मा और आत्मा नहीं हैं बल्कि यह कहा जायेगा कि उसमें विवेक शक्ति बिल्कुल नहीं

है। चमगादड़ यदि सूर्य को न देख सके तो सूर्य का न होना सिद्ध नहीं हो सकता, बल्कि यह कहा जायेगा कि चमगादड़ सूर्य को नहीं देख सकता। तारे, सूर्य के प्रकाश में दिखायी नहीं देते, परन्तु न दिखायी देने से उनके अस्तित्व को नकारा नहीं जा सकता। यदि किसी यंत्र या किसी आले के द्वारा किसी व्यक्ति को देखने की यह शक्ति हो सके कि वह तारों को सूर्य की रोशनी में भी देख सके तो यह विशेष बात होगी और वह पूर्ण विश्वास (ऐनुल यकीन) के स्तर पर पहुंचेगी कि सूर्य की रोशनी में उसने तारों को देख लिया जो शेष अन्य लोग नहीं देख सकते।

परमात्मा और आत्मा कोई दृश्यमान चीज़ नहीं हैं जो देखे जा सकें। हां, ज्ञान के क्षेत्र में थोड़ी बहुत झलक आ सकती है। जैसा और जिस समय और जिस स्तर का उसका ज्ञान होगा, जैसा कि ऊपर वर्णन किया गया है, वैसा ही उसका अनुभव होगा। रीयलाइज़ेशन (साक्षात्कार या अनुभव) इसी का नाम है, बाकी ढ़कोसलेबाज़ी (मिथ्या)

है। अब ऊपर के वर्णन को **Round about explanation** (घुमा फिरा के समझाया हुआ वर्णन) भी समझ सकते हैं और वास्तविकता भी, जैसी आपकी समझ हो।

गुरु कृपा और लगन से सफलता : एक प्रकार से असली समझ गुरु कृपा से (या कश्फी तौर से) हो सकती है जिसमें तर्क की आवश्यकता नहीं। प्रभु कृपा (कश्फी) रूप में समझ देना (अनुभव करा देना) ऐसा है जैसे कि रामकृष्ण परमहंस जी ने विवेकानन्द जी को कराया था। रामकृष्ण परमहंस वास्तव में गुरु कहलाने के योग्य थे और ऐसा ही गुरु होना चाहिये। परन्तु संभवतः एक ही विवेकानन्द जी ऐसे शिष्य भी थे। शेष सब ऐसे हुये जो शनैः-शनैः इस स्तर को पहुंचे होंगे। इस दृष्टि से स्वामी रामकृष्ण परमहंस जी भी न जाने कितने लोगों को लम्बे समय तक लटकाये रखने के दोषी होते रहे होंगे, इस फ़कीर की तो गिनती ही क्या है।

मैं स्वीकार करता हूँ कि अपनी वर्तमान अवस्था और विश्वास के अनुसार मैं अनुभव कर चुका हूँ कि परमात्मा भी है और आत्मा भी है और अभी मालूम नहीं कि ये ज्ञान कहाँ जा कर ठहरेगा और कहाँ इसका ठिकाना होगा। क्योंकि पूर्ण ज्ञान परमात्मा में ही है, न कि आत्मा में और जब यह स्थिति है तो आत्मा की यह सामर्थ्य कहाँ कि Perfect realisation (सम्पूर्ण अनुभव) का दावा कर सकें। मैं परम पूर्ण सर्व समर्थ गुरु होने का दावा नहीं कर सकता। प्राइमरी स्कूल का सब से नीचा शिक्षक अपनी ओर से किसी अ, ब पढ़ने वाले को धोखा नहीं देता। एक गुरु और शिक्षक एम.ए. क्लास को पढ़ाता है और एक प्राइमरी स्कूल के सब से नीचे 'सी' सेक्शन को। जो क्रमशः ईश्वरीय कृपा से आध्यात्मिक शिक्षा प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें इसके लिये समय खर्च करना होगा। काल्पनिक योजनाओं से क्या हो सकता है ? सामान्य विद्या अध्ययन तक में भी कितना परिश्रम, समय और खर्चा करना पड़ता है।

वास्तव में मेरी नीयत लोगों को धोखा देने की नहीं है, न सब लोग जो आते हैं धोखा देते हैं क्योंकि साल भर क्लास में पढ़ने के समय को धोखेबाजी नहीं गिना जा सकता, बल्कि आशा की जाती है कि परीक्षा में सफलता होगी। यदि किसी प्रकार से सफलता नहीं मिलती तो न पढ़ने की तो शिकायत हो सकती है। इसी प्रकार विवेक शक्ति की सफाई और विवेक शक्ति बढ़ाने की चेष्टा में जो समय लगाया जाता है वह परीक्षा का समय आने तक प्रशिक्षण माना जाता है न कि समय खराब करना। अगर लोगों ने मेरी शिक्षा को ग्रहण नहीं किया तो यह मेरे शिक्षा के ढंग की खराबी या कमी कही जा सकती है और दूसरी दृष्टि से साधकों में लगन की कमी और बेपरवाही हो सकती है।

आध्यात्मिकता और दुनियादारी : खोज कर के वास्तविकता समझने के लिये सामान्यतः दो तरीके हो सकते हैं – (1) जो दुनिया की हर चीज को देख कर और उससे अनुभव प्राप्त करता हुआ चले और फिर

मैटीरियल वर्ल्ड (संसार) की हर चीज़ की खोज समाप्त करके स्पीरिचुल वर्ल्ड (आध्यात्मिकता) की ओर मुँह मोड़ लें। (2) या दूसरे प्रकार से संसार की ओर से आँख मूँद ले और आध्यात्मिकता की ओर चल पड़े।

सांसारिक वस्तुओं से सम्बन्ध करके अनुभव होता है। अतः जो व्यक्ति इस प्रकार से दुनियादार हो कि पहले अपने आप को पूर्ण दुनियादार सिद्ध कर दिखाये, तब वह वास्तव में दूसरी ओर पलटेगा। संभव है कि 'श्रीकृष्ण' इसी मार्ग को पसन्द करता हो और यही मार्ग उसने अपनाया हो, जब वह पूर्ण दुनियादार हो जायेगा पलट पड़ेगा। यदि आपने इस तरीके को अत्यन्त बुरा माना हुआ है तो इसके विपरीत मार्ग अपना लीजिये अर्थात् दुनियादार न बनिये और यही आध्यात्मिकता और परमात्मा की पूजा है। वास्तविकता यह है कि मेरी शिक्षा दुनियादारी सिखाती है। यदि कोई पूर्ण इंसान नहीं बन सकता तो वह परमात्मा को नहीं देख सकता और न ही अपनी समझ उसको आ सकती है। यदि पूर्ण दुनियादार

बन गया तो वह इस योग्य हो सकता है कि अपने आप को समझ सके और परमात्मा को देख सके।

दुनियादार वही है जिसका मन सांसारिक चीज़ों में आनन्द पाता हो। जब संसार की हर चीज़ में मन लगा कर आनन्द प्राप्त कर लेगा और असली आनन्द उसमें न पायेगा तो फिर दूसरी चीज़ को पकड़ेगा और इस प्रकार से हर चीज़ को लेता जायेगा। अन्ततः वह उस स्थिति पर पहुँचेगा कि जिसमें हमेशा का आनन्द होगा और वही परमात्मा है। अतः यदि कोई व्यक्ति समझने के बाद भी इस तरीके पर चलने को राजी न हो और सरल शिक्षा को ग्रहण न करे तो मेरी शिक्षा का केवल यही दोष है कि उसमें इतना बल नहीं है। परन्तु शिक्षा का स्वरूप तो वास्तविक आध्यात्मिक शिक्षा का है।

नास्तिक और आस्तिक : परमात्मा अवश्य है और एक ही है। यदि मैं और आप उसको देख सकें तो वह परमात्मा नहीं है, बल्कि कोई मायिक पदार्थ है। मनुष्य की विवेक (चेतना) की पराकाष्ठा को जीवात्मा कहते हैं और

यह विवेक कि मेरी बुद्धि अत्यन्त नम्र और तुच्छ है, परमात्मा के प्रति परम आधीनता है क्योंकि एक ओर मनुष्य की तुच्छ बुद्धि एवं विवेक युक्त चेतन शक्ति (जीवात्मा) है और दूसरी ओर पूर्ण (सर्वज्ञता) ज्ञान है जो ईश्वर है।

आपकी खुशी है कि आप नास्तिक हों या आस्तिक रहें क्योंकि आप नास्तिक होंगे तो किसके प्रति होंगे ? हर स्थिति में आस्तिक होने का प्रतिकूल विचार आपकी सोच में शेष रहेगा। अधिक अच्छी बात तो यह है कि आप न तो नास्तिक हों न आस्तिक, तब तो भलाई है। हमारे यहां नास्तिक परमात्मा के न मानने वाले को नहीं कहते हैं, बल्कि उसको नास्तिक मानते हैं जो कर्म, मन और वचन से ऐसे कामों और विचारों को व्यवहार में लाता है जिन से अपनी आत्मिक, बौद्धिक, मानसिक और शारीरिक स्तरों की हानि होती है और उनकी शक्ति नष्ट होती हो तथा दूसरों पर भी ऐसा प्रभाव पड़े जिससे उनकी आत्मिक, बौद्धिक, मानसिक और शारीरिक शक्ति नष्ट हो और आस्तिक वह

है जिसका व्यवहार इसके विपरीत हो। अतः यदि मन तथा व्यवहार आदि ऐसे हैं जो आत्मा, बुद्धि—मन के सूक्ष्म शरीर तथा स्थूल शरीर किसी को हानि न कर सके तो आदमी चाहे आस्तिक हो या नास्तिक कुछ चिन्ता नहीं।

आत्मा, परमात्मा और सब योग्यता आपके अन्तर में विद्यमान है केवल इस भ्रम को दूर करने की आवश्यकता है कि परमात्मा है या नहीं या आत्मा है या नहीं। यदि यह भ्रम दूर हो जाये तो गुरु आदि की भी आवश्यकता नहीं, गुरु तो केवल इस भ्रम को दूर करने का यत्न करते हैं। यदि कोई व्यक्ति स्वयं ही गुरु है तो उसको हर चीज प्राप्त है। परमात्मा और आत्मा की खोज वास्तव में स्वभाविक है और यही मूढ़ता तथा भ्रम है। भ्रम मूलक कल्पना का इलाज कल्पना से होता है। इसका इलाज भी काल्पनिक आदर्श अर्थात् गुरु से होता है।

ईश्वराधीनता (तवक्कुल) : पूर्णतः ईश्वर इच्छा पर अवलंबित और आश्रित होने (तवक्कुल) का आदर्श आजकल लोक विवशता के कारण अपना लेते हैं जो मेरी

राय में साहस की कमी और आलस्य के कारण भेंट आदि स्वीकार करने का बहाना बना लेते हैं, यह ईश्वराधीनता का निकृष्ट रूप है। लेकिन अगर वास्तव में कोशिश करने और मेहनत करने के बाद भी अपने अधिकार से बाहर की स्थिति के कारण रोजी में तंगी आ जाती है और उस समय सच्चे प्रेमीजनों को मालूम होने पर वे अपनी क्षमता के अनुसार सहायता करते हैं तो ऐसी स्थिति में उसे स्वीकार करने में हर्ज नहीं है। क्योंकि जब यह मालूम हो जाये कि ऐसे प्रेम में जो भेंट देते हैं उनका उद्देश्य निस्स्वार्थ भाव से सच्चे प्रेम मार्ग पर चलने का है और न किसी बदले या वापस लेने की कोई भावना है और न ही उसमें इस बात की आशा है कि उसके बाद वह किसी प्रकार का विचार मन में रखेंगे कि अमुक व्यक्ति को यह सहायता दी गयी, न किसी एहसान के बदले के इच्छुक होंगे तो फिर यह सहायता ईश्वरीय आज्ञा से है और उसको स्वीकार कर लें।

ईश्वराधीनता का जो गुणगान महापुरुषों ने किया था मैं उसका सारांश लिखता हूँ कि यह अत्यन्त आवश्यक है कि परिश्रम करता रहे और अपनी ओर से रोजी के लिये बेपरवाही न करे, न बेकार बैठा रहे बल्कि अपने पूरे साहस से व्यस्त रहे और जो कुछ रोजी से मिले उसको अपना प्राप्त किया हुआ न ख्याल करे बल्कि ईश्वर का दिया हुआ या उसकी ओर से भेजा हुआ समझे। जब चेष्टा करने के बाद भी कुछ प्राप्त न हो तब भी उसका धन्यवाद करे और शिकायत न करे और न मन वचन से भेंट आदि का इच्छुक हो। परन्तु इच्छा न करने और चाह न करने पर भी आ जाये तो उसको स्वीकार कर लेना चाहिये क्योंकि यह ईश्वरीय आज्ञा और उसकी प्रेरणा से आया हुआ है।

भेद केवल इतना है कि अपने मन व अहंकार या इच्छा से कोई चीज मिले तो उसे कदापि न ले और बिना इच्छा के जब मन के प्रभाव से दूर हो और निराश हो और किसी के कहने का भी ख्याल न हो, उस समय जो

कुछ आये उसे स्वीकार कर ले क्योंकि वह ईश्वरीय इच्छा (प्रेरणा) से आया है और ईश्वरीय इच्छा के अनुसार न चलना और ईश्वरीय आज्ञा न पालन करना एक बड़ा पाप है। परन्तु ऐसा करते रहने से आगे चल कर आदत बन जाती है इसलिये इसमें सावधानी बरतना अनिवार्य है, फिर भी इतनी सावधानी हो कि ईश्वरीय इच्छा को रद्द करने की स्थिति न हो जाये।

सत्संग एवं कृपा : अपनी स्थिति एवं अनुभूतियों से बराबर सूचित करते रहना लाभदायक है। जो अवस्था है उससे स्पष्ट है कि आप पर परमात्मा की ऐसी कृपा है जो कि निश्चयपूर्वक आपके सामीप्य में सत्संग करने के इच्छुक हैं, उनको लाभ होता है और ऐसा लाभ होता है कि उनका ध्यान चाहे अधिक समय के लिये न हो तो भी संसार से सिमट कर एक केन्द्र की ओर हो जाता है, जहाँ से यदि वे दृढ़ निश्चय के साथ लगे रहें और ईश्वरीय कृपा शामिल रहे तो लक्ष्य तक पहुंच सकते हैं। आप तथा अन्य भाई जो इस स्थिति तक पहुंचे हैं वे इस सन्तमत

परम्परा के महापुरुषों की विशेष कृपा (सहायता) एवं आत्मबल को अपने ध्यान में अनुभव करते रहें। यह कृपाधारा महान् गुरुजनों की है। इस कृपा का धन्यवाद करना (कृतज्ञ होना) प्रत्येक साधक का कर्तव्य है और उसका धन्यवाद तब ही हो सकता है जब उस कृपा के अनुकूल अपना जीवन बनायें अर्थात् ऐसे कर्मों का त्याग करें जिनसे उस कृपा धारा में कमी आती हो और ऐसा आचरण बनायें जो उस कृपा के बने रहने में सहायक हो। मिलने पर इसकी महत्ता बहुत बार बतायी गयी है। लेकिन यदि ठीक प्रकार से मालूम न हो तो फिर लिख कर या मिलने पर विस्तार से बतायी जायेगी। संक्षेप में सारांश यह है कि कुसंग से बचें और आचरण सम्बन्धी जो बातें या कर्म मना हैं उनसे यथा सम्भव बचें।

जब किसी व्यक्ति में अन्तर्भाववेश (जज़्ब) की शक्ति का यह प्रभाव है कि दूसरों की ओर ध्यान (ख़्याल) करने से उन लोगों की स्थिति बदल जाती है तो निश्चित है कि उनके सब अच्छे-बुरे संस्कार भी अन्तर भाव

(जज़्बे) में आ जाते हैं। लेकिन चूंकि अपनी स्थिति इतनी पक्की और दृढ़ नहीं है जो ऐसे भार को संभाल सकें, जिससे हर समय यह भय रहता है कि गड्ढे में न गिर जायें, इसलिये अत्यन्त सावधान रहना चाहिये। खूब समझ लेना चाहिये कि हर व्यक्ति जो सान्निध्य में आता है ऐसे शेर के समान है, जो फाड़ खायेगा या उस डूबने वाले के समान है, जो गहरे पानी में घबरा कर सहायता देने वाले को दबा देता है और उसको दबोचकर खुद भी डूब जाता है और उसे भी डुबो देता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि जो सेवा कार्य किया जा रहा है उसे छोड़ दिया जाये, बल्कि तात्पर्य यह है कि सेवा कार्य भी चलता रहे और अपनी हानि भी न होने पाये। अतः सत्संग करवाने में ऐसा ख्याल न करें कि ध्यान प्रभाव हमारा है। सत्संग में लोगों पर जो प्रभाव पड़े उसका श्रेय अपने आप को न दें क्योंकि वास्तव में यह प्रभाव हमारा नहीं है बल्कि किसी दूसरे का है जो महापुरुषों की कृपा है और जब प्रभाव हमारा नहीं है तो हमारा एहसान क्या!

जमाले हमनशीं दरमन असर कर्द।

वगरना मा हुमा खाकम कि हस्तम।

अर्थात् मेरे प्रियतम की कृपा ने मुझ में यह प्रभाव किया वरना मैं तो वही खाक (धूलि) हूँ जो पहले था। यदि यह मान लें कि यह प्रभाव हम से है तो भी अपने आत्मबल से नहीं है बल्कि अक्सी (प्रतिबिम्ब रूप में) है जिस पर गर्व करना मूर्खता है क्योंकि यह स्थायी नहीं होते। सत्संग में आने वालों में अधिक घुले-मिले नहीं, बल्कि सत्संग के समय सेवा कार्य किया और अलग हो रहे। उनके साथ हर प्रकार से घुलत-मिलत न करना चाहिये। अन्यथा हानि की संभावना है जैसा कि स्वप्नावस्था से भी स्पष्ट होता है।

कृपा वृष्टि एवं कृतज्ञता : कृपा वृष्टि (फ़ैज) अनायास कृपा धारा है जो ऊपर से आती है अर्थात् स्वयं अपने अन्तर से नहीं बल्कि दूसरी जगह या कृपा स्रोत से आती है। किसी बर्तन में ऊपर तक कोई चीज भरी हुई है और यदि वह छलक जाये या उसमें उबाल आ जाये तो

बाहर को बहने लगती है। यही अवस्था फ़ैज (कृपा वृष्टि) की है।

वह अमृत की धार जो असल भण्डार में है या सन्त सद्गुरुजनों के हृदय में है उसको प्रेमावेश कहते हैं। इसी प्रेम के करोड़ों रूप बन गये हैं, जो दुनिया में दिखायी देते हैं। विद्युत, आकर्षण शक्ति, प्रकाश, गर्मी (ऊष्मा), केन्द्रीय बल (सैन्ट्रीफ्यूगल फोर्स) सब इसी असली प्रेम के रूप है। तवज्जुह भी जिसको सुरत कहते हैं, इसका अंश है। जैसे कि कहावत है कि ईश्वर ही प्रेम है और प्रेम ही ईश्वर है। यही प्रेम और प्रेमावेश जब असली भण्डार और सन्त सद्गुरुजनों के माध्यम से साधक के हृदय और मस्तिष्क में प्रवेश करता है तो इसको फ़ैज या कृपा वृष्टि कहते हैं।

यह अनायास आता है और इच्छा भाव से भी आता है। यदि साधक के इच्छा भाव से है तो यह अभ्यास से है और यदि ईश्वरीय कृपा या सन्त सद्गुरुजनों की कृपा से आता है तो यह अनायास है। यदि यह हमेशा अभ्यास से

होता है तो साधक को मुरीद कहते हैं और यदि बिना इच्छा भाव और अभ्यास के स्वतः ही होता है तो उस मुरीद (शिष्य) को मुराद कहते हैं। अतः ऐसी कृपा धन्यवाद के योग्य है। जितनी अधिक कृपानुभूति हो उतना ही कृतज्ञ होना चाहिये और उस कृपा के प्रति धन्यवाद या कृतज्ञता यह है कि कृपानुकूल ही आचरण बनाये। जब ऐसी कृपा हो तो अपने आपको सराहे और आचरण में कोई ऐसी बात न होने पाये जिससे कृपा का आना बन्द हो जाये। ऐसा सोचना कि कोई शारीरिक सेवा ली जाये जिससे कि नियमितता आ जाये ठीक है। परन्तु प्रायः हृदय का या मानसिक अभ्यास इतना हो जाता है कि जिसका प्रभाव शरीर पर स्वतः ही पड़ जाता है। परन्तु यह सूक्ष्म स्वभाव वालों के लिये है। स्थूल स्वभाव वालों के लिये सूर्य निकलने से पहले साफ (शुद्ध) होकर नेति—इति (नफ़ी—अस्बात) करना चाहिये जो इक्कीस बार से अधिक न हो। फिर शजरे शरीफ का पाठ करना चाहिये और इसी प्रकार सायं को या रात को साफ होकर ख़त मुजद्दीया के अनुसार जाप करना चाहिये।

भजन और मनन : शब्द (नाम सुमिरण-भजन) साफ सड़क है जिससे अभ्यासी भटकता नहीं और न कोई गलती घटित होती है। लेकिन जब शब्द अभ्यास पक्का हो जाये और स्वतः हमेशा चलता रहे और क्रम न टूटे तो पंथाई नौसिखिया नहीं रहता। अब बिना मनन के आगे की प्रगति करना कठिन है। लेकिन मनमाने मनन से संभव है कि आध्यात्मिक पथ में भ्रम हो जायें। मनन आँय-बाँय-शाँय (भ्रामक) नहीं होना चाहिये, बल्कि सन्त सद्गुरु योग्यता के अनुसार मनन ध्यान निश्चित कर दिया करते हैं। सन्त सद्गुरु द्वारा निश्चित किये बिना, स्वयं मन माने तरीके से मनन करना कभी-कभी शेखचिल्लियों की योजना जैसा होता है, जो बेकार है।

स्थूल ध्यान की अपेक्षा प्रकाश अधिक सूक्ष्म है और लम्बी अवधि के अभ्यास की अपेक्षा निश्चित किया गया सूक्ष्म नियमित अभ्यास और शेष समय एक ख्याल सा बना रहना अधिक अच्छा है।

सच्चा प्रेम एवं श्रद्धा : यदि प्रेम बिल्कुल मालूम नहीं होता तो यह अच्छा है। वास्तव में वह स्थूल से लगाव था जो सच्चा प्रेम नहीं था, बल्कि सच्चे प्रेम की नकल था, जो काम का नहीं था। यदि प्रेम सच्चा होता तो लुप्त न होता।

परम अर्थ और परम इच्छा के अनुकूल ही परम लक्ष्य होता है। दो चरम अवस्थाओं के मिलने में बीच की तीसरी चीज भी परम महत्व रखती है। अतः माध्यम सद्गुरु है, जिसकी स्वाभाविक आवश्यकता होती है। बिना माध्यम के कुछ नहीं हो सकता। माध्यम से (स्थूल स्वरूप से) सदैव लगाव का न रहना आवश्यक भी है क्योंकि वहीं पड़े रह जाने से आगे का क्रम रूक जाता है और लक्ष्य तक पहुंचना कठिन होता है। एक सीढ़ी के माध्यम से छत पर पहुंचना लक्ष्य है और सीढ़ी का हर डण्डा उस समय का गुरु है। आगे की ओर जाने के लिये यदि किसी डण्डे पर पग टिकाया है तो इस पग टिकाने को गलती से प्रेम कह दिया और डण्डे को गुरु कह दिया। अतः गुरु के ये

सब स्तर (स्थूल, सूक्ष्म आदि) माध्यम मात्र हैं न कि लक्ष्य, लक्ष्य और है। असल गुरु और असल लक्ष्य के बीच भेद करना भी अत्यन्त कठिन है, बल्कि असंभव है। अतः इस भ्रम को दूर करो। श्रद्धा और नियम पालन अनिवार्य है। हर डण्डे पर असावधानी से औंधा-टेढ़ा पग रखना अश्रद्धा या अशिष्टता (बेअदबी) है, जिससे डर नीचे गिर जाने का है। श्रद्धा रखना पहली चीज है।

सद्गुरु में लय : सद्गुरु में लय होना (फ़नाफ़िल शेख), अवतार में लय होना (फ़नाफ़िल रसूल) और फिर परमात्मा में लय होना (फ़ना फ़िल्लाह), ये तीन लय अवस्थायें हैं।

बिना सद्गुरु में लय हुये, परमात्मा में लय होने के इच्छुक न मालूम कौन सी चीज हैं। मैं उनको मक्कार का नाम देता हूँ। अतः इससे पहले तुमको परमात्मा से मिलने की चाह नहीं थी तो कुछ अनुचित नहीं था और अब आजकल आगे की ओर पग बढ़ रहा है तो उसका धन्यवाद है कि रास्ता गलत सिद्ध नहीं हुआ और संसार

की ओर से हटकर असल लक्ष्य की ओर उन्मुख है। यदि धर्मशास्त्र का पालन न करें तो संभवतः शुरु-शुरु में परमात्मा की एकमात्र चाह शायद हज़ारों में से सिर्फ एक को होती होगी, अन्यथा समय व्यर्थ गँवाना है।

एक कहावत है कि एक ईश्वर भक्त जिनका नाम 'सुल्तान बाहू' था अपने एक शिष्य के साथ यात्रा पर जा रहे थे। रास्ते में एक नदी पड़ी, वहाँ कोई नौका न थी—सुल्तान बाहू पानी पर चलने लगे और शिष्य से कहा कि, 'मेरे पीछे चले आओ और बाहू का नाम लेकर कदम पानी पर रखते आओ।' शिष्य चलने लगा, परन्तु रास्ते में बाहू का नाम छोड़ 'याहू' (हे प्रभो) कहने लगा— तुरन्त डूबने लगा और कहने लगा कि 'मैं डूबा'। सुल्तान बाहू ने कहा कि तूने शंका क्यों की ? प्रभु से न तो तेरी भेंट है और न ही तू उसके सम्मुख है। अतः बिना परिचित के सहारा किसका खोजता है ?

संध्या के समय यदि एक महान् अस्तित्व का भाव उत्पन्न हो गया है तो संकेत असल लक्ष्य की ओर है।

संध्या के समय यदि यह भाव उत्पन्न हो जाता है कि तुम्हारी जगह मैंने ले ली है तो यह क्या आश्चर्य है ? क्या क्रमशः बच्चे की स्थिति युवा की ओर युवा की स्थिति बूढ़े की जैसी नहीं होती ? शिष्य गुरु की आध्यात्मिक और चारित्रिक सन्तान होती है, अतः मेरी आध्यात्मिकता और आचरण तुम में प्रविष्ट हो जायें तो क्या आश्चर्य है ? बल्कि यह होना ही चाहिये था। क्या अभी तक स्कूल के बच्चे जैसा रहना पसंद करते हो ?

वंश परम्परा के महापुरुषों और उनके माध्यम से अवतार से लगाव होना विशेष धन्यवाद करने की अवस्था है। यह उनकी महान् कृपा है। कृपा वृष्टि (फ़ैज़) में अपने सत्संगी साथियों को सम्मिलित कर लेना आत्मिक साहस का प्रतीक है और यह खुशख़बरी तुम्हारे लिये है, जिसका सम्बन्ध आध्यात्मिक शिक्षा से है। यह विशेष कृपा वृष्टि अवतार स्तर की है जो हजारों में से किसी एक के भाग्य में आती है।

दुआ में सब कुछ भूल जाना और केवल यह याद रह जाना कि अपनी कृपा को हम पर उतार, यह दुआ की विशेष देन है।

तुमने पूछा है कि सत्संग में बैठने वालों को इस कृपा वृष्टि (फ़ैज़) में साथ रखूँ या उनको केवल तवज्जुह दी जाये। इसका उत्तर यह है कि तवज्जुह देना तो सामान्य कर्तव्य है जो अपने अधिकार में है। लेकिन कृपा वृष्टि अपने अधिकार में नहीं है। जब उस भण्डार से दया की लहर उठती है तब यह कृपा वृष्टि होती है। अतः उस अवस्था में यदि अधिकार रहता है और सत्संगियों की याद शेष रहती है तो उनको ख्याल से सम्मिलित कर लेना चाहिये। यह अति उत्तम है, परन्तु यदि अधिकार शेष नहीं रहता तो मजबूरी है।

कृपा, सत्संग और सदाचार : खूब समझ लेना चाहिये कि इस दुनिया में जो पैदा हुआ है या विद्यमान है उसके लिये उस भण्डार की ओर से सतत् खुराक पहुँचती रहती है, चाहे वह उसको जान सके या न जान सके।

यदि एक सैकिण्ड के साठवें भाग में भी यह कृपा या खुराक बंद हो जाये तो श्वास नहीं आ सकती और सब काम बंद हो जायेंगे। सूर्य का प्रकाश सब पर एक सा और हर समय पड़ता रहता है, परन्तु कोई अनुभव करता है और कोई नहीं अनुभव करता। लेकिन उसका प्रभाव अवश्य पड़ता है।

सत्संग में आने और सत्गुरु से प्रेम होने से पूर्व, जन्म से वह खुराक तुम तक पहुँचती थी जिसके न पहुँचने की तुम्हें शिकायत है और वह अब भी बराबर तुम तक पहुँचती रहती है, कोई घड़ी इससे खाली नहीं। केवल अन्तर अनुभव होने या न होने का है। कंकड़, पत्थर, मिट्टी घास—फूस, पशुओं, आदमियों, देवताओं या सब में उसकी कृपा या खुराक सतत आ रही है। अब इनके मध्य अन्तर, अनुभूति के विवेक का है। फिर विवेक का भी एक विशेष स्तर है कि कुछ को विवेक तो है परन्तु कभी होता है, कभी नहीं होता है अर्थात् दिन—रात में किसी समय में विवेक प्रकट होता है और अन्य समय

पर बिल्कुल नहीं होता। इस वंश के महापुरुषों ने इस विवेक को बनाये रखने की इतनी महत्ता दी है कि पलक मारने के लिये (क्षण भर) भी भूल होने को अशिष्टता (बे—अदबी) माना है। हम लोग तो सिर्फ उनके नाम लेने वाले और बदनाम करने वाले हैं। क्या मज़ाल है कि उनकी धूलि (रज) को हमारी हवा तक लग सके और उनके अनुगामी होने का दावा कर सकें। परमात्मा हमारे दिलों को उनकी ओर मोड़ दे ताकि उनके पावन और सदाचारी जीवन के उत्तराधिकारी कहे जा सकें।

धन्य हैं वे लोग जो सैकिण्ड के साठवें हिस्से में भी अपने विवेक और स्मरण से नहीं डिगते। यदि परमात्मा हम में से किसी को ऐसी योग्यता प्रदान करें कि अपने स्मरण को विवेक के इस स्तर तक बनाये रख सकें और फिर उसमें लय हो जायें तो उसकी विशेष दया और कृपा वृष्टि होगी। महापुरुषों की कृपा से परमात्मा इस स्मरण के साथ विशेष आनन्द और प्रेम की महान देन प्रदान करेगा। यह विशिष्ट आनन्दावस्था अन्तःकरण की शुद्धि

और मन के सधे बिना प्राप्त नहीं हो सकती और मन का सीधे रास्ते (सत्मार्ग) पर आ जाना और अन्तःकरण का शुद्ध होना बिना सदाचार के संभव नहीं है। यह दो तरह से हो सकता है।

(1) उन सब बातों की जानकारी प्राप्त कर लें कि कौन-कौन से कर्म करने योग्य हैं और कौन-कौन से त्यागने योग्य हैं और फिर शंकाओं का समाधान होकर सैद्धान्तिक मान्यतायें और विश्वास सही हो जायें। इन बातों की जानकारी हो जाये तो संयम और दृढ़ निश्चय के साथ उनका पालन करना चाहिये।

(2) ऐसे महापुरुषों का सत्संग करना चाहिये जो पूर्ण सदाचार के साथ जीवन यापन करते हैं और ईश्वर प्रेमी हैं तथा सद्प्रभाव रखने वाले हैं। ऐसे लोगों का मिलना दूभर है। यदि ऐसे लोग भाग्य से मिल जायें तो उनके सत्संग को बड़ा अवसर जाने (समझे) और लग लिपट कर अपना काम बना ले। वरना दुनिया का क्या भरोसा ? बहुत से सज्जन अवसर की महत्ता न जानकर,

न जाने किन विचारों में डूब जाते हैं और सुअवसर को हाथ से निकलने देते हैं और पछता कर दुखी होते हैं।

संभव है कि ईश्वर प्रेमी और सद्प्रभाव रखने वाले व्यक्ति मिल जायें, परन्तु इसके साथ ही उच्च स्तर के सदाचारी महापुरुष कम मिलेंगे, बल्कि ऐसे महापुरुष का मिलना दुर्लभ है।

आध्यात्मिक सन्तान : जो मैं कभी 'भाई' कहकर संबोधन करता हूँ तो उसमें तात के अर्थ में भाई शब्द का प्रयोग करने में कोई हर्ज नहीं है। इसके अतिरिक्त यदि दूसरे भाव से भाई का संबोधन किया है तब भी अनुचित नहीं है क्योंकि दीक्षा गुरु महाराज (हजूर महाराज) के हाथ पर है, न कि इस तुच्छ दास के हाथ पर जो ऐसी बड़ी जिम्मेदारी और बोझ सहन करने योग्य नहीं है। और यह तरीका इस दृष्टि से भी रखा है कि कोई अशिष्टता न हो। इसके अतिरिक्त पिता और पुत्र के सम्बन्ध की भी बात है। दुनिया के मामले में सोचो तो एक उदाहरण व्यापारी लोगों में पाओगे कि वे अपनी फ़र्म या दुकान का

नाम जोड़े के नाम से रखते हैं जैसे भवानीदास-उग्रसेन (भवानीदास बाप का नाम, उग्रसेन बेटे का नाम), मुन्नालाल-दीपचंद (मुन्नालाल बाप का नाम, दीपचन्द बेटे का नाम)। उद्देश्य यह है कि अपने अस्तित्व को पिता के अस्तित्व के साथ जुड़ा हुआ रखते हैं ताकि पिता का अस्तित्व लुप्त न हो जाये और यह सिलसिला (क्रम) बना रहता है और सदैव चलता जाता है।

उस पवित्र अस्तित्व (सद्गुरु) ने अपने अंश को तुम्हारे अन्दर रख कर अपने आप को छुपा लिया और तुम को प्रकट कर दिया है। हमारा यह कर्तव्य है कि अपने अस्तित्व को छुपा कर (लय करके) असल अस्तित्व को प्रकट कर दें। पिता का नाम पुत्र से प्रख्यात होता है और इसी आशा पर इंसान स्वभावतः सन्तान की इच्छा करता है कि सन्तान हो और नेकनामी (सुप्रसिद्धि) के साथ नाम रोशन करने वाली हो। पुत्र में यदि शरीर, चरित्र, व्यवहार और योग्यता की दृष्टि से पिता से समानता होती है और हर प्रकार से अपने पिता के पद चिन्हों पर चलता है तो

आम लोगों को अत्यन्त सुविधा होती है कि बिना पूछताछ किये पहचान जाते हैं कि यह लड़का अमुक व्यक्ति का है। ईश्वर ऐसा साहस प्रदान करें कि अपने आध्यात्मिक पिता (सद्गुरु) के पद चिन्हों पर (कदम-ब-कदम) चल सकें। पहले के लोगों ने इस मामले में इतनी अधिक चेष्टा की है कि पहनावा, बातचीत का ढंग और चाल ढाल में अपने गुरु का अनुकरण करने में विशेष ध्यान दिया है। यदि कृपा कर परमात्मा तुम में से किसी को साहस और शक्ति प्रदान करे तो उसका हज़ार एहसान है। मैं यह उचित समझता हूँ कि आप लोगों को आध्यात्मिकता में परिपूर्ण अस्तित्व के समक्ष कर दूँ। इसका उपाय ऐसे महापुरुषों का जीवन और रहनी-सहनी है, जिसका अपनी सामर्थ्य अनुसार स्वाध्याय करें।

विवेक और प्रेम : यह बात मानी हुई है कि दुनिया की चाल एक सी नहीं रहती। इसका रंग हमेशा बदलता रहता है। इसकी गर्म और ठण्डी हवा के झोंके जब लगातार इंसान सहन कर लेता है तब पक्का और अनुभवी

बन जाता है और फिर यही कहने लगता है कि –

देह धरे का दण्ड है, सब काहू को होय।

ज्ञानी भोगे ज्ञान से, मूर्ख भोगे रोय।।

सांसारिक प्रेम सम्बन्धों में जो स्वार्थ छिपा रहता है उस को इस प्रकार भी देख सकते हैं कि (1) संतान को अपने माता-पिता से प्रेम अपने पालन-पोषण और आराम के विचार से है। (2) मित्र और प्रेमियों के परस्पर संबंध में भी एक के बाद दूसरी स्वार्थ भावना सम्मिलित हो जाती है। (3) पति को अपनी पत्नी से प्रेम अपनी वासना पूर्ति और गृहस्थी में सहायता की स्वार्थ भावना से है। (4) शिष्य को गुरु से प्रेम प्रायः दीन और दुनिया की प्राप्ति और दोषों को दूर करने तथा सदा-सदा के जीवन, पूर्ण ज्ञान और सदैव रहने वाले आनन्द की प्राप्ति हेतु होता है।

उपनिषद् में याज्ञवल्क्य जी महाराज और उनकी पत्नी मैत्रेयी जी के संवाद में इस सम्बन्ध में जिस मूल

सिद्धान्त को बताया गया है, उस पर भी एक दृष्टि डालनी चाहिये। याज्ञवल्क्य जी महाराज ने अपने विचारों को इस प्रकार प्रकट किया है—

(1) पत्नी की दृष्टि में उसका पति मात्र पति के रूप में प्रिय नहीं है, बल्कि आत्मा के कारण प्रिय है।

(2) पति की दृष्टि में उसकी पत्नी मात्र पत्नी के रूप में प्रिय नहीं है, बल्कि पत्नी आत्मा के कारण प्रिय है।

(3) माता-पिता की दृष्टि में उनकी सन्तान मात्र संतान के रूप में प्रिय नहीं है, बल्कि सन्तान आत्मा की दृष्टि से प्रिय है।

(4) ब्रह्म भी मात्र ब्रह्म के रूप में नहीं, बल्कि आत्मा के कारण प्रिय है, आदि-आदि।

अब विचार करना चाहिये – क्या शरीर आत्मा है ? क्या यह प्राण आत्मा है ? क्या यह मन आत्मा है ? क्या यह बुद्धि आत्मा है ? यही शरीर यदि आत्मा मान लिया

जाये तो यह बीज के रूप में पिता के शरीर का निचोड़ है, पुत्र पिता के शरीर का अंश है, और पिता बाबा के शरीर का अंश है। यह क्रम अनादि काल से ऐसा होता चला आया है। ईर्ष्या—द्वेष, सुख—दुःख, चेष्टा—ज्ञान जो सब उसी जीवात्मा के गुण प्रतीत होते हैं, क्या मरने के बाद ये बेजान हो जाते हैं ?

सार वस्तु की दृष्टि से सब इंसान एक हैं बल्कि समस्त सृष्टि एक प्रतीत होती है। संयोग और कर्म ने उनके भिन्न—भिन्न रूप उत्पन्न कर दिये हैं। इसी वास्तविकता पर विचार करते हुये प्रायः लोगों ने भिन्न—भिन्न प्रकार के दृष्टिकोण बना लिये हैं। जिसको आत्मा की महत्ता नहीं मालूम है, वह ब्रह्म को स्वीकार नहीं करता है। अतः जब अपने अस्तित्व के साथ जो आत्मा है, अपने आप से उसकी पहचान नहीं कर सकता तो अच्छा या बुरा रास्ता किस प्रकार मालूम कर सकेगा ?

ऊपर लिखे हुये रूपों में अलग—अलग शरीरों में जो एक ही चीज, एक ही रूप सब में (पिता, भाई, पुत्र,

पत्नी, गुरु, मित्र आदि में) है, वह सिर्फ एक ही है। पदार्थ और प्रकृति की दृष्टि से अलग—अलग आवश्यकतायें, कर्म और स्वभाव हैं। केवल रूप अलग—अलग दृष्टिगोचर होते हैं। पुत्र—पिता, गुरु—शिष्य में एक ही चीज है जो क्रिया कर रही है। यह क्रिया क्या है ? कहीं पर यह बिजली के रूप में है और कहीं पर शक्ति के रूप में है। कहीं यह अग्नि है, कहीं यह प्रकाश है, कहीं यह प्राण वायु है, कहीं यह पैदा करने की शक्ति है, कहीं विचार की धार, संकल्प—विकल्प, चित्त वृत्तियाँ, कहीं बुद्धि के चमत्कार, कहीं ज्ञान—विज्ञान, कहीं अध्यात्म—ज्ञान, कहीं यथार्थ की बात, कहीं सूर्य प्रकाश के रंग—रूप, कहीं प्रेम, कहीं आत्मा, कहीं तीनों गुण, कहीं ब्रह्म और कहीं परब्रह्म।

तात्पर्य यह है कि स्थूल और प्रकृति के साथ संबंध से यही प्रेम (जो आत्मा है) स्वार्थ बन जाता है और जहां स्वार्थ आया सार वस्तु छुप जाती है। परमात्मा प्रेम है और वही अपनी आत्मा है। यह प्रेम, स्वार्थ में सम्मिलित हो जाने से दोष की श्रेणी में आ जाता है। लेकिन प्रकृति में

यह आवश्यकता है, जिसका उद्देश्य कर्तव्य है। इसी का दूसरा नाम धर्म है। इसी धर्म को बिना बदले की भावना से पालन करते रहना असली धर्म है— यही निष्काम कर्म कहलाता है।

हर एक धर्म का पालन मात्र अपनी आत्मा के कल्याण के लिये किया जाता है। अपनी आत्मा और सब की आत्मा एक है। इसीलिये परस्पर लेनदेन का क्रम बराबर चल रहा है। यदि हम किसी वस्तु को किसी को देते हैं तो यह आवश्यक है कि उसी प्रकार की या दूसरे प्रकार की वस्तु को दूसरे से जाने हुये या बिना जाने हुये लेते रहते हैं।

पॉज़िटिव और निगेटिव धारें अपना काम बराबर किये जा रही हैं, चाहे हम जानकारी रखते हों या न रखते हों। लेने और देने का क्रम बन्द नहीं होता। बस फिर इसमें एहसान क्या है ? प्रकृति जबरदस्ती ऐसा करने—कराने को विवश करती है। यह हमारा अज्ञान है जो सबको तो सामने रख लेते हैं और अपने आप को जो

आत्मा है भूल जाते हैं। यदि यह बात समझ में न आती हो तो एक कहानी सुनो जो इस विषय के समझने में सहायक होगी।

कुछ लोग समूह बनाकर किसी काम के लिये यात्रा पर चले। रास्ते में नदी पड़ी। नाव उपलब्ध थी या नहीं थी— परन्तु जब सब पार होकर दूसरे किनारे पहुँचे तो आपस में सम्मति हुई कि आओ हम सब अपनी जाँच कर लें कि सब उसी संख्या में जो घर से चले थे उपस्थित हैं या कोई हम में से डूब गया। प्रत्येक व्यक्ति ने सब को गिनना शुरू किया, परन्तु गिनती करते समय अपने आप को भूल जाता था, इसलिये एक की कमी पड़ती थी। जब सबने इस प्रकार गिनती कर ली और कमी पूरी न हुई तो सब चिल्ला—चिल्ला कर रोने लगे। लोगों ने रोने का कारण पूछा, परन्तु यह समस्या कोई सुलझा नहीं पाया। अन्ततः एक अनुभवी साधु ने आकर इस प्रकार उनका समाधान किया कि सबको सामने खड़ा किया और एक से कहा कि अब मेरे सामने गिनती करो। उसने पहली ही

प्रकार से गिनती की। तब साधु ने कहा कि तुम अपने आप को क्यों नहीं गिनते ? और हमेशा गिनती करने में प्रत्येक व्यक्ति अपने आप को भूल जाता है। इस ज्ञान से सबको स्पष्ट हो गया कि हमारी गिनती गलत थी और सब संतुष्ट होकर अपने-अपने रास्ते चले गये और साधु ने अपना रास्ता लिया।

अब विषय स्पष्ट है, भली भाँति समझ लेना चाहिये कि हर व्यक्ति में कर्म इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, एवं आत्मा विद्यमान हैं। कर्म करने में सबको सामने रखकर गिनती (विचार) करता है किन्तु अपने को जो आत्मा है और प्रेम स्वरूप है भूल जाया करता है। दुनिया के सब लोग इस गुत्थी को सुलझाने के अक्षम है, लेकिन एक साधु आता है और गुरु रूप बन कर आत्मा का बोध कराकर और शान्ति देकर अपना रास्ता लेता है। यह निस्स्वार्थ है और उसका मात्र यही काम है। जहाँ जीव का उद्धार हो गया, फिर उसका क्या मतलब ?

जब मैं था तब गुरु नहीं, अब गुरु हैं मैं नाहिं।

प्रेम गली अति सांकरी, या में दो न समाहिं।।

जब तक शिष्य में कमी है, ज्ञान नहीं पैदा हुआ, गुरु अपना काम, जो धर्म है, करता है। अब शिष्य पूर्ण हो गया तो गुरु को गुरु क्या सिखलायेगा और फिर क्या मतलब ? काम हो लिया और अपने-अपने रास्ते दोनों चले जाते हैं। यही स्वार्थ और निस्स्वार्थ की शान है।

यदि इस शान की झलक सब भाई, बन्धु-सम्बन्धी मित्र एवं प्रियजनों में देखने लग जायें तब प्रत्येक कार्य धर्म (कर्तव्य) और निस्स्वार्थ हो जायेगा और प्रेम जिसका नाम है वह असल स्वरूप में प्रकट हो जायेगा। हम व्यर्थ ही अपने आप को और दूसरों को चाहे या बिना चाहे क्यों दोषी ठहरायें ? न कोई दोष है, न कोई दोषी, केवल समझ का फेर है। इसलिये अपना काम किये जाओ और जो (सेवा) हो सके करते जाओ, परमात्मा सच्चा ज्ञान देगा।

नासाग्र ध्यान (सही विधि) : सही शिक्षा और साधन इस प्रकार है कि दो प्रकार के अभ्यास हैं। एक को

नासाग्र (नसीरा) ध्यान और दूसरे को भृकुटि (महमूदा) ध्यान कहते हैं। कुछ लोग दूसरे ध्यान को त्रिकुटी ध्यान कहते हैं, लेकिन मेरे अनुसार यह त्रिकुटी ध्यान नहीं है बल्कि इसे भृकुटि ध्यान कहते हैं क्योंकि दोनों भौंहों के बीच का स्थान त्रिकुटी नहीं, बल्कि दो दल कंवल, आज्ञा चक्र, तीसरा तिल, शिव नेत्र, शिव की तीसरी आँख (नुक्तये सुवैदा) का स्थान है। यह दोनों स्थान के अभ्यास आँखें खुली हुई रखकर किये जायें तो इसको त्राटक ध्यान भी कहते हैं।

नासाग्र ध्यान यह है कि नाक की नोक की ओर आँखें खुली रखी जायें और पुतलियां आँखों के किसी कोने की ओर न खिसकने पायें बल्कि आँख के ढेले के मध्य में सधी रहें और दृष्टि न (ऊपर) आकाश की ओर हो और न (नीचे) पृथ्वी की ओर हो। आँख से नाक के सिरे को न देखा जाये बल्कि मन या ख्याल से देखा जाये। इसका अर्थ यह है कि आँखों को आधा खुला इस प्रकार रखा जाये जिस प्रकार कि नशा पिये हुये व्यक्ति

की आँखें पूरी तरह नहीं खुलती हैं और यह ख्याल किया जाये कि आँख की नोक को देख रहे हैं और प्रतीक्षा प्रकाश या इष्ट के सूक्ष्म स्वरूप की है। जितनी देर तक पलक न झपके उतनी देर तक यह साधन करना चाहिये। एकदम इतना अभ्यास न करें कि आँखों से पानी बहने लग जाये या दर्द (पीड़ा) अनुभव हो, बल्कि धीरे-धीरे रोजाना थोड़ा-थोड़ा बढ़ायें।

लोग बड़ी गलती इस अभ्यास में यह करते हैं कि (ख्याल के बजाय) नाक के सिरे को देखा करते हैं और ख्याल से कोई मतलब नहीं रखते इससे दृष्टि को हानि पहुंचती है, आँखें भेंगी और टेढ़ी पड़ जाती हैं और मन (ख्याल) के द्वारा न होने के कारण असली लाभ नहीं पहुँचता।

भृकुटि ध्यान : इसमें दोनों भौंहों के मध्य (तीसरे तिल पर) ध्यान जमाते हैं और तारे के रूप (या प्रकाश) का ध्यान करते हैं। आँखों को बन्द करके भी यह ध्यान करते हैं और आँखें खोल कर भी करते हैं। आँखें यदि

खुली रहें तो भी इस प्रकार से हो कि सामने की कोई चीज दिखायी न दे और यह ख्याल किया जाता है कि इन आँखों से उस तिल या नुक्तये सुवैदा को देख रहे हैं। लेकिन आँखें बन्द करके अच्छा होता है। जागृत अवस्था में यह स्थान जीवात्मा के बैठने का है या यों कहना चाहिये कि जीवात्मा का मन के साथ रहने का स्थान है। नक्शबन्दी मुजद्दिदी सूफ़ी परम्परा में पहले हृदय पर ध्यान इतना पक्का कराते हैं कि उसके अभ्यास से तुरन्त (शीघ्र ही) एक दिन यह चक्र खुल जाता है। इस चक्र के खुल जाने (जागृत होने) की पहचान (लक्षण) यह है कि प्रकट रूप से दोनों भौहों की जगह भारी-भारी हो जाती है या चींटी के रेंगने की सी क्रिया अनुभव होती है। कुछ लोगों को गुदगुदी और कुछ को दर्द सा लगता है। भीतर की ओर तारा चमकता हुआ दिखायी देता है जिसके चारों ओर तेज प्रकाश की किरणें फैलती हुई दिखायी देती हैं। इसके अतिरिक्त बहुत से और लक्षण एवं अनुभूतियाँ होती हैं। भिन्न-भिन्न साधकों को भिन्न-भिन्न अनुभव होते हैं।

एक अभ्यासी को मैंने देखा था कि उसकी पुतलियाँ आँखों के ढेले से बिल्कुल ऊपर को चढ़ जाया करती थीं ओर इतनी ऊपर को चढ़ जाया करती थीं कि काली पुतली बिल्कुल दिखायी नहीं पड़ती थी और अभ्यासी की मुखाकृति अत्यंत डरावनी हो जाती थी। उनको पूछने से ज्ञात हुआ कि उनको इस अभ्यास से कोई लाभ नहीं हुआ। आँखों को खुला रख कर यह कोशिश नहीं करना चाहिये कि भौहों के मध्य बाह्य दृष्टि से देख रहे हैं, बल्कि ख्याल से देखना चाहिये, चाहे आँखें बन्द रखें या खुली रखें।

जिन लोगों को यह अभ्यास बताया जाये, वही करें-इसे पढ़ कर स्वयं ही, बिना किसी से पूछे न करें अन्यथा लाभ के बजाये हानि हो जायेगी। हर व्यक्ति का पात्र देखकर शिक्षा दी जाती है और साधन बतलाया जाता है। पुस्तक देख कर अभ्यास करना अत्यन्त खतरनाक है।

सुरत शब्द : बिना कानों में उँगली डाले (या डाट या रूई) लगाये हुये दूर से घंटे की ध्वनि आती हुई सुनायी देना परमात्मा की देन और उसकी कृपा है तथा साधना पथ पर प्रगति का शुभ संकेत है। यह सुरत शब्द योग कहलाता है। स्वतः सूक्ष्म स्तर का शब्द खुल जाना परमात्मा की दया और कृपा है। यद्यपि यह शुरु का शब्द है परन्तु उसकी कृपा होने पर इसी प्रकार अभ्यास करते हुये और भी आगे के (ऊँचे स्तर के) शब्द सुनायी देने लगेंगे। यहां पर इनके नामों, स्थानों और स्वरूपों का विस्तृत वर्णन लिखना उचित नहीं समझता। ध्यान को शब्द से हटाने की आवश्यकता नहीं है और स्वतः सुनायी देता है तो सुनते जाओ। परन्तु यह लक्ष्य नहीं है बल्कि रास्ते के चरण (स्तर) हैं जिनसे पता लग जाता है कि लक्ष्य की ओर जा रहे हैं

कस न दानिस्त कि मंज़िल दहे माशूक कुजात।

ई क़दर हस्त कि बाँगे जर्स मी आयद।।

अर्थात् किसी ने यह नहीं जान पाया कि उस प्रियतम के रहने की जगह कहाँ है परन्तु इतना पता लगा है कि उधर से घंटे की ध्वनि सुनायी देती है।

इस सम्बन्ध में वर्णन सन्तों के शब्दों (वाणी) और सन्तमत की पुस्तकों में विस्तार से लिखा हुआ है। परन्तु यह बातें पहले से जान लेने में कभी-कभी तो लाभ होता है और कुछ स्थितियों में हानि भी होती है। जैसे कि सुनी-सुनायी बातें या पुस्तक में देखी हुई बातें मस्तिष्क की स्मरण शक्ति में सुरक्षित रहती हैं जो कभी अभ्यास की अवस्था में स्मरण शक्ति के भण्डार से निकल कर सामने आ जाती हैं और यह प्रतीत होता है कि यह सही है और सचमुच यह अवस्था हमारी हो गयी है जबकि यह स्थिति मनन शक्ति से सामने आ गयी है जो वास्तविक नहीं है, न अभ्यास का परिणाम है और न मालिक की कृपा से है, बल्कि मात्र धोखे की बात है।

स्मरण शक्ति से प्रकट हुई स्थिति अधिक समय तक नहीं रहती और तनिक से धक्के से लुप्त हो जाती है

और वास्तविक स्थिति लुप्त नहीं होती। अतः कोई-कोई भ्रम के शिकार होकर अनायास ही अहंकारी बन जाते हैं। जो अवस्था बिना सुने और बिना किसी पुस्तक में देखे सुरत में अनुभव हो उसमें भ्रम का भय नहीं रहता। इसलिये अपने यहाँ ऐसा उचित समझते हैं कि विभिन्न अवस्थाओं को पहले से प्रकट नहीं करते और प्रतीक्षा करते हैं कि साधकों के सामने असली अवस्थाएँ इस प्रकार से स्पष्ट आ जायें कि स्वयं उनका अनुभव कर लें और भ्रम या संदेह की कोई संभावना शेष न रहे।

जो अवस्था गुरुकृपा से अनुभव होती है, वह कश्फी कहलाती है और उसकी कृपा से आशा की जाती है कि अगर अभी यह स्थान (चक्र) अक्सी रूप से खोले गये हैं तो उसकी दया और कृपा के भण्डार से असल स्थायी स्थिति में प्रवेश प्राप्त हो जायेगा। यह सब उसी की कृपा के सहारे संभव होगा।

कभी-कभी तेज प्रकाश जो अभ्यास की प्रारम्भिक अवस्था में दिखायी देता है, वह मारीचिका है जो मायावी

है। इस ओर भी कुछ ध्यान नहीं देना चाहिये। श्री रामचन्द्र जी महाराज का धोखे में आकर इस मारीचिका की ओर ध्यान गया और उसके पीछे भागे जिससे अन्ततः एकाग्रता की कुछ हानि हुई अर्थात् सीता जी को खोया, परन्तु यह कुछ ही अवधि के लिये रहा।

उपदेश

दुख का कारण भ्रम और शंकाएँ हैं। इनके कारण ही हम अपने लिये नये-नये दुख पैदा कर लिया करते हैं। बिना सोचे समझे अंधाधुंध किसी काम को करते रहने से कुछ न कुछ परिणाम अवश्य होता है। यह भी संभव है कि ऐसा करने पर भी सहस्रों मनुष्यों में से कोई एक व्यक्ति अपने ध्येय को प्राप्त कर सका हो। परन्तु अधिकतर यह देखा गया है कि जब तक समझ बूझ के साथ ढंग से काम नहीं किया जायेगा, उस कार्य के सभी अंगों को ठीक तौर पर नहीं चलाया जायेगा तब तक

सफलता मिलना असंभव है। जैसे दवा के साथ पथ्य होता है उसी प्रकार प्रत्येक काम के सम्बन्ध में कुछ न कुछ ऐसी बातें भी होती हैं जिन्हें मुख्य कार्य के समान ही निभाना अत्यंत आवश्यक होता है।

संसार में अधिकतर मनुष्य ऐसे हैं कि जो परमार्थ और परमार्थ के असली रूप को नहीं समझते और न कभी वे उसको समझने का प्रयत्न करते हैं। इसलिये वे उसके पूर्ण लाभ से वंचित रह जाते हैं। परमार्थ तक पहुँचने के लिये एक रास्ता है जिस पर चल कर हम वहाँ तक पहुँच सकते हैं। परन्तु इस मार्ग पर चलने वाले मुसाफिर ऐसी आशाओं को लेकर उधर रवाना होते हैं जिनके कारण वे उत्तराखण्ड न पहुँच कर दक्षिण दिशा में पहुँच जाते हैं और कभी-कभी भयानक झंझटों में अपने आप को फँसा कर वहीं नष्ट होकर रह जाते हैं।

इसमें कोई संदेह नहीं कि इस ओर चलने वाले पथिक में आगे चलकर कई प्रकार की ऐसी स्थितियाँ, सिद्धियाँ और शक्तियाँ आने लग जाती हैं कि जिनका

बाहरी स्वरूप ऐसा दिखायी देता है कि ये हमारे शारीरिक लाभ अथवा साँसारिक पदार्थों के लाभ के लिये आयी हैं। यदि हम इनकी ओर ध्यान न दें और आगे बढ़ते चले जायें तो ये आत्म साक्षात्कार में हमारी सहायक बन जाती हैं, और उनके द्वारा ही हम अत्यन्त सुख प्राप्त कर सुखी बनते हैं। परन्तु अपनी गलती से उनको ही हम ध्येय समझकर अपना झुकाव उधर को ही कर देते हैं तो ये शक्तियाँ हमारा मुँह नीचे की ओर मोड़ देती हैं और हमारा पतन करती हुई थोड़े ही दिनों में वहाँ लाकर पटक देती हैं जहाँ पर फिर न उन शक्तियों का पता चलता है और न उस मार्ग का और हम पूरे संसारी मनुष्य बनकर रह जाते हैं जिसके लिये हमें कभी-कभी पछताना भी पड़ता है, यथा मति तथा गति।

इस मार्ग पर चलने वालों ने क्या कभी यह विचार किया है कि हम कौन-कौन सी साँसारिक आशाओं की गठरी लादे हुये आज इधर को चल रहे हैं। हम पहाड़ की ऊँची चोटी पर पहुँचना चाहते हैं परन्तु हमारे सिर पर

इतना बोझ बँधा हुआ है कि जिस के कारण हम थके हुये चले जा रहे हैं, हमारे पाँव लड़खड़ा रहे हैं और हमारी शक्ति जवाब दे रही है। ऐसी दशा में क्या यह संभव नहीं है कि हमारे पाँव फिसल जायें और हम औंधे मुँह किसी खड्डे में गिर कर अपनी हड्डी पसली को तोड़ लें। ऐसा होने पर हमारा सारा परिश्रम व्यर्थ हो सकता है। हमें चाहिये कि इस ऊर्ध्व गति के समय हम बहुत सावधान रहें। गठरी को सिर से दूर फेंक दें और हलके बन कर जल्दी-जल्दी कदम उठाते हुये उस स्थान पर पहुँच जायें कि जहाँ से न तो लौटना होता है और न ही किसी प्रकार का दुःख होता है।

आओ, देखें, रास्ता क्या है— हमारा इष्ट (ध्येय) क्या है ? इस ध्येय को पाने का साधन क्या है — ध्येय और साधन में भेद क्या है ? देखना यह है कि इस ओर साधन को ध्येय मानकर चल रहे हैं या ध्येय को ध्येय समझ कर।

जिस मार्ग पर तुमको चलना है, वह निष्कामता का मार्ग है। यदि तुम अपने मन में किसी लालसा को लिये हुये यहाँ आये हो या किसी प्रकार की अन्य इच्छा (इस लोक की अथवा परलोक की) तुम्हारे हृदय में उठ रही है तो तुम को समझना चाहिये कि हम अपने सही मार्ग से च्युत हो रहे हैं। जो मनुष्य अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिये साधन और सत्संग करता है, वह वास्तव में जिज्ञासु नहीं है— वह ईश्वर को नहीं चाहता और न उसके लिये यहां (सत्संग में) आता है। हमारा जो मार्ग है, उसमें किसी मनुष्य को यह आशा नहीं रखनी चाहिये कि उसमें ऐसी सिद्धियाँ और शक्तियाँ आ जायेंगी जिनके द्वारा वह भूत भविष्य का ज्ञाता हो जायेगा अथवा और कोई अद्भुत चमत्कार दिखाने लग जायेगा कि जिसके कारण वह समाज में प्रतिष्ठित समझा जाने लगे और सर्व साधारण उसकी महिमा के गीत गाने लगे।

हम किसी से यह वादा भी नहीं करते कि उसके पाप क्षमा कर दिये जायेंगे तथा अशुभ कर्मों के करने पर

भी वह यम-दण्ड से बचा दिया जायेगा। तुम लोगों को यह आशा छोड़ देनी चाहिये। हम यह भी वादा नहीं करते कि आज से तुम्हारे सारे कार्य ठीक होंगे और तुम क्लेशों से बचा दिये जाओगे। ये तो सब भोग हैं। चाहे भजन करो या न करो तुम्हें भोगने ही होंगे। गंडा-ताबीज़, झाड़-फूँक, दुआ इत्यादि के द्वारा लोगों को संसारी लाभ हमारे यहाँ नहीं पहुँचाये जाते। अगर कोई व्यक्ति अपना मुकदमा जीतने की गरज़ से, परीक्षा में पास होने के लिये, रोजगार और नौकरी के लिये तथा रोगी के निरोगी होने के लिये, सन्तान प्राप्ति के लिये तथा किसी दूसरे कष्ट को दूर करने के लिये यहां आया है तो वह अधिकारी नहीं है। ईश्वर प्राप्ति के लिये ये सारे ही विचार त्याग देने चाहियें और कभी आशा नहीं रखनी चाहिये कि हम उनके आगे पीछे की बात बता देंगे। यदि तुम्हें इन बातों की चाहना हो तो इसके लिये संसार में कमी नहीं है, ऐसे लोगों के पास तुम जा सकते हो।

कई लोग यह चाहते हैं कि उन्हें कुछ भी परिश्रम न करना पड़े। गुरु अपनी शक्ति से ही हमें ऊँचे स्थानों पर पहुँचा दें और ऐसी स्थिति पैदा कर दें कि उनमें सत्कर्म स्वाभाविक रूप से आ जायें। न कभी पाप कर्म की ओर उनका चित्त जाये और न कभी बुरे विचार उनके अन्दर उठें अथवा उनकी बुद्धि इतनी तीव्र हो जाये कि धर्म के रहस्य को समझने के लिये उन्हें तनिक भी दिमाग न लगाना पड़े— ये सब थोथी बातें हैं। भाग्य से अथवा ईश्वर की दया से कोई जिज्ञासु एकदम चाहे इस अवस्था में पहुँच गया हो, परन्तु हर एक के लिये यह नियम लागू नहीं हो सकता है।

प्रत्येक साधक की आन्तरिक अवस्था में भेद होता है। कोई शीघ्र ही उन्नति कर जाता है और कोई देर से। कोई बैठते-बैठते ही आनन्द में डूब कर अपनी सुधबुध बिसार देता है और किसी को वर्षों बीत जाते हैं। परन्तु वह वैसे का वैसे ही दिखायी पड़ता है, एक कदम भी

आगे नहीं चल पाता। ये सब बातें अपनी पात्रता और संस्कारों पर निर्भर हैं।

कई लोगों को साधन के समय अद्भुत-अद्भुत प्रकाश दृष्टिगोचर होते हैं। कई प्रकार के नये-नये शब्द अन्तर में सुनायी देते हैं। कई साधकों को कुछ भी अनुभव नहीं होता। कोई आँखें मूँद कर एकदम आगे बढ़ता चला जाता है। किसी को स्वप्न में या ध्यान में नई-नई विचित्र बातें अनुभव होती हैं और किसी को कुछ भी नहीं। यह सब बीच की बातें हैं। इनकी ओर ध्यान नहीं देना चाहिये। अपने लक्ष्य पर पहुँचने का उद्योग करना चाहिये।

लक्ष्य का आदर्श क्या है, सुनो। निष्कामता के साथ कर्तव्य समझ कर उसकी आज्ञाओं का पालन करना और उसकी इच्छा में प्रसन्न रहना, यही धर्म है। धर्म के अर्थ केवल कर्तव्य के हैं। धर्मशास्त्र में इसको दो भागों में बाँटा है— एक मानसिक धर्म और दूसरा सामाजिक धर्म। मानसिक धर्म के भी दो भाग हैं— एक यह है कि जिसका संबंध बाहरी कर्मों से है, जैसे संध्या, प्रार्थना, जप, तप,

कीर्तन, व्रत, यज्ञ, गृहस्थ कर्तव्य, तीर्थ, दान इत्यादि। इनमें मन इन्द्रियों के साथ काम करता है, इसलिये ये बाहरी कर्म कहलाते हैं।

दूसरे आन्तरिक धर्म वे कहलाते हैं, जिनमें केवल मन ही अपना काम करता है जैसे, प्रेम के साथ निरन्तर उसकी याद करना, उस पर दृढ़ विश्वास होना, उससे डरना, संसारी पदार्थों से लगाव कम करना, वैराग्य होना, जो मिले उसमें संतुष्ट रहना, ममत्व और तृष्णा का कम करना, भजन के समय मन को उसकी ओर से न हटने देना, सत् कर्मों की ओर रुचि होना, दूसरों को नीच और बुरा न समझना, दीन दुखियों पर दया करना, क्रोध न करना, अपनी किसी वस्तु के लिये अभिमान न करना इत्यादि। इन सब पर चलना ही पथ या मार्ग कहलाता है। जिस प्रकार बाहरी कर्म किये जाते हैं, उसी प्रकार आन्तरिक कर्मों को करने की भी आवश्यकता है। जब तक मन का व्यवहार ठीक नहीं होता तब तक बाहरी कर्म भी ठीक नहीं हो सकते, जैसे ईश्वर के लिये तुम्हारे मन में

पूर्ण श्रद्धा नहीं है, उसका मूल्य तुम नहीं जानते तो संध्या करने में सुस्ती हो जायेगी या उलटी-सीधी जल्दी-जल्दी कर ली जायेगी और उपासना करने के लिये मन तैयार न होगा। बाहरी कर्मों के करने में मनुष्य चाहे जितनी होशियारी करे जब तक मन नहीं सँभलेगा, तब तक वह अधिक नहीं चल सकता। इसका गढ़ना और उच्च भाव का बनाना आवश्यक है।

अपने अन्दर की खराबियाँ (विकार) समझ में कम आ पाते हैं। यदि आ भी जायें तो मनुष्य को उनको ठीक करने का उपाय मालूम नहीं होता और मालूम भी हो तो मन की खींचातानी के कारण उस पर आचरण कठिन हो जाता है। इसलिये इन आवश्यकताओं को समझने और अपने विकारों को दूर करने के लिये किसी आदर्श गुरु को ढूँढना होता है और उसी की शिक्षा के अनुसार चलना होता है। गुरु का काम है कि निस्स्वार्थता के साथ अपने शिष्य को समय-समय पर सचेत करते रहना और उसके अन्दर जो विकार हैं उन्हें दूर करने की क्रियायें बताते

रहना। मन की दुरुस्ती, बिना साधन और अभ्यास के नहीं होती। इसलिये गुरु का काम है कि शिष्य को किसी न किसी आन्तरिक साधन में अवश्य लगा दें, परन्तु वह साधन ऐसा हो जो शिष्य की अवस्था और समय के अनुसार ठीक हो तथा जिसको वह कर सके।

यह संसार नाम और रूप से बना है। ब्रह्म का भी नाम और रूप हैं। इसलिये साधन में भी इन्हीं से काम लेना होता है। इनमें से एक को 'शब्द योग' और दूसरे को 'दृष्टि योग' कहते हैं। अच्छा तो यह होता है कि ये दोनों साथ-साथ चलें।

व्यवहार ठीक हुये बिना, परमार्थ नहीं बनता। इसलिये व्यवहार के संबंध में बतलाया जाता है। सुनो साँसारिक और मानसिक रीति रिवाज के पालन करने को व्यवहार कहते हैं। इसमें आचार-विचार, लौकिक और कौटुम्बिक सभी रीतियां सम्मिलित हैं। हमारी रहनी-सहनी कैसी हो, हम दूसरों के साथ कैसा व्यवहार करें, यह सब व्यवहार है। व्यवहार के सम्बन्ध में, आओ पहले उन बातों

पर विचार करें, जो तुम्हारे इस मार्ग के लिये लाभदायक हैं। जिस पंथ या परम्परा के तुम अनुयायी बने हो तथा जिस पथ पर तुम जाना चाहते हो, उसके सम्पूर्ण मार्ग दर्शन, रीति-नीति, और विधि-विधान को जाने बिना, उससे लाभ नहीं उठा सकते।

तुम्हें चाहिये कि समय-समय पर जो शिक्षायें और उपदेश सुनते हो, उन्हें लिख लो। कभी-कभी एकान्त में बैठ कर विचार करो और उन्हीं के अनुसार अपने जीवन को बनाओ। जो पुस्तकें यहाँ से प्रकाशित हों उनको ध्यानपूर्वक पढ़ो अथवा किसी दूसरे से सुनो। फिर उन पर मनन करो। उसके पश्चात् अपने से मिलान करो। जो कमी अपने में देखो, उसे जल्दी पूरा कर डालो।

नियम जैसे संध्या-पूजा, भजन-उपासना को कभी भूल कर भी मत छोड़ो। यदि उस समय तुम्हारे इस मार्ग के और साथी (सत्संगी) मौजूद हों तो तुम सब मिल कर एक जगह, एक साथ बैठ कर इस कार्य को प्रेम और सच्ची निष्ठा के साथ करो। इससे तुम और भी जल्दी

सफल हो जाओगे। अपने सत्संग के नियम बना लो और दृढ़ता के साथ उनका पालन करो। जो कोई मनुष्य अकारण ही आलस्य अथवा भूल से नियमों का पालन न करे, उसे पश्चाताप करना, व्रत करना, दान देना इत्यादि परिमार्जक कर्म करना चाहिये। इस प्रकार स्वयं को दण्ड देने का विधान सत्संगों में हुआ करता है।

नेक कमायी करो, खेती-बाड़ी, नौकरी, व्यापार, जमींदारी इत्यादि से जो कुछ आमदनी तुमको हो, उसका एक भाग धर्मार्थ के लिये निकालो और सत्संग हेतु जमा कर दो। फिर उससे ऐसे काम करो जो दूसरों के लाभ के हों।

तुम्हारे अकेले की उन्नति से कुछ नहीं होगा—स्त्री, बच्चों और अपने अन्य कुटुम्बियों को भी इधर लगाओ जिससे तुम्हारे घर का वायुमण्डल शुद्ध और शान्त हो जाये। एक से विचार के मनुष्यों में ही प्रेम हो सकता है। बिना सब लोगों में प्रेम हुये, अशान्ति दूर नहीं हो सकती। ऐसा करने के लिये दिन-रात में से कोई एक

ऐसा समय निश्चित करो कि उस समय सब मिल कर धर्म सम्बन्धी चर्चा किया करें। मुख्य—मुख्य धार्मिक पुस्तकें पढ़ें और उनको दूसरों को समझायें अथवा जो बातें तुम कहीं बाहर से सुन आओ और वे सब के लिये लाभदायक प्रतीत हों तो उन्हें घर वालों को अवश्य बताओ।

ऊपर संक्षेप में उन बातों को बताया है, जिनको तुम्हें ग्रहण करना है। अब आगे व्यवहार की उन बातों को बताते हैं, जिनको तुम्हें त्यागना होगा। इन्हीं को यम—नियम कहते हैं।

भोजन सादा और सात्विक ग्रहण करो। किसी प्राणी को मत सताओ। माँस, मदिरा, नशे की चीजें तथा प्याज—लहसुन इत्यादि और गरम मसाले खाना छोड़ दो क्योंकि ये सब इस मार्ग के लिये हानिकारक हैं। किसी स्त्री या पुरुष को कुदृष्टि से मत देखो। स्त्रियों से अधिक मेल न रखो और कभी अकेले में उनके पास मत बैठो। रात्रि में उनके साथ निवास मत करो। स्त्रियों को चाहिये कि बिना किसी मजबूरी के परपुरुष के सामने न जायें,

चाहे वे गुरु या रिश्तेदार ही क्यों न हों। यदि जाना ही पड़ जाये तो अपने शरीर के अंगों को खूब ढक लें और किसी दूसरी स्त्री या बच्चों को साथ ले लें।

अपने वस्त्रों को स्वच्छ और शुद्ध रखो। कपड़े सादा पहनो, फैशन न करो। अधिक ज़ेवर और कीमती कपड़ों के पहनने से अभिमान आता है। दिखावा और बनावट से दूर रहो। ऐसा कपड़ा पहनो कि जिसमें शरीर के अंग न दिखायी दें। धोती इत्यादि इतनी लटका कर मत पहनो कि मल—मूत्र अथवा गन्दे पानी के छींटे उन पर पड़ें। शुद्धता का पूरा ध्यान रखें।

आजकल सब बातों में दिखावा बढ़ गया है। मनुष्य की जो कुछ हैसियत है, उससे ज़्यादा अपने आप को साबित करना चाहता है। शादी, व्यवहार, रस्मों—रिवाज, न्यौता, देने—लेने और कपड़ों इत्यादि में लोग कर्ज लेकर खर्च कर डालते हैं। फिर अशान्ति और दुःख उठाते हैं। यह बहुत बुरा है। जितने तुम हो या जो कुछ तुम्हारी हैसियत है उतना ही दूसरों पर प्रकट करो। सच्चाई और

सादगी बड़ी अच्छी चीज़ है इससे दुनिया में बड़ी इज़्जत होती है।

मुर्दों पर न रोओ। तेरहवीं आदि पर बहुत खर्च मत करो। गरीबों पर दया करो।

झूठी नालिश, झूठी गवाही, सूद और रिश्वत से बचो। चुगली, निन्दा, झूठ, कपट, धोखा, शास्त्रार्थ, सट्टा, जुआ, चोरी तथा ताश खेलना, कबूतरबाजी, थियेटर आदि जैसे तमाशे देखना जिनमें वृत्ति खराब हो, शराब या भंग बेचना, बिना काम के निठल्ले पड़े रहना, ज्योतिषी व रमल वालों (पासे फेंक कर अनुमान लगाने वालों) से आगे पीछे की बातें पूछना, देवताओं को इष्ट मानना, कुत्ते बिल्ली इत्यादि पालना और उनको छूना, भूत-प्रेत, मीरा मसान पूजना, इत्यादि बातें त्यागने योग्य हैं।

स्त्रियों को चाहिये कि पति की इज़्जत करें। उन से सम्मति लेकर अपनी गृहस्थी का काम चलायें। धन को फिजूल (व्यर्थ) न उड़ावें। बिना पूछे किसी दूसरी जगह न जायें। पति से प्रेम का व्यवहार करें। उनसे कभी कटु

वचन न बोलें, न कभी कठोर शब्दों में उत्तर दें। इसी प्रकार पुरुषों को भी चाहिये कि उनकी हर बात का ध्यान रखें। उनसे प्रेम का बरताव करें।

सरल और सादा जीवन ही फ़कीरी या साधना है। इसमें आकर पीरी-मुरीदी (गुरुडम) का ढोंग रचना, ताबीज़, गंडा, झाड़-फूँक करना, तथा करामात (चमत्कार) दिखाते फिरना बहुत बुरा है। इनमें मनुष्य पतित हो जाता है।

चुपचाप प्रेम के साथ उसका भजन करो। जिस मार्ग को पकड़ा है, उसमें श्रद्धा और विश्वास रखते हुये आगे बढ़े चलो।

अमीरों और बुरे लोगों की संगत से बचते रहो। ईश्वर दया करेगा और तुम्हारा बेड़ा पार हो जायेगा।